[ ८ ]

# जीवन का ब्रेक—संयम

**चेतना : आत्मा का स्वाभाविक गुण :**

आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। वह अनन्त ज्ञान-दर्शन का पुंज-परमज्योतिर्मय, आनन्दनिधान, निर्मल, निष्कलंक और निरामय तत्त्व है, किन्तु अनादिकालीन कर्मावरणों के कारण उनका स्वरूप आच्छादित हो रहा है। चन्द्रमा मेघों से आवृत होता है, तो उसका स्वाभाविक आलोक रुक जाता है, मगर उस समय भी वह अमूल नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के सहज ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव हैं, आवृत हो जाने पर भी उनका समूल विनाश नहीं होता। वायु के प्रबल वेग से मेघों के छिन्न-भिन्न होने पर चन्द्रमा का सहज आलोक जैसे चमक उठता है, उसी प्रकार कर्मों का आवरण हटने पर आत्मा के गुण अपने नैसर्गिक रूप में प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार जो कुछ प्राप्तव्य है, वह सब आत्मा को प्राप्त ही है। उसे बाहर से कुछ ग्रहण करना नहीं है। उसका अपना भण्डार अक्षय और असीम है।

**साधना : भीतरी निधि पाने का प्रयास :**

बाहर से प्राप्त करने के प्रयत्न में भीतर का खो जाता है। यही कारण है कि जिन्हें अपनी निधि पाना है, वे बड़ी से बड़ी बाहर की निधि को भी ठुकरा कर अकिंचन बन जाते हैं। चक्रवर्ती जैसे सम्राटों ने यही किया है और ऐसा किये बिना काम चल भी नहीं सकता। बाह्य पदार्थों को ठुकरा देने पर भी अन्दर के खजाने को पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। यह प्रयास साधना के नाम से अभिहित किया गया है।

**साधना के दो अंग : संयम और तप :**

भगवान महावीर ने साधना के दो अंग बतलाये हैं—संयम और तप। संयम का सरल अर्थ है—अपने मन, वचन और शरीर को नियंत्रित करना, इन्हें उच्छृङ्खल न होने देना, कर्मबन्ध का कारण न बनने देना। मन से अशुभ चिन्तन करने से, वाणी का दुरुपयोग करने से और शरीर के द्वारा अप्रशस्त कृत्य करने से कर्म का बन्ध होता है। इन तीनों साधनों को साध लेना ही साधना का प्रथम अंग है। जब इन्हें पूरी तरह साध लिया जाता है, तो कर्मबन्ध

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रुक जाता है। नया कर्मबन्ध रोक देने पर भी पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बनी रहती है। उनसे पिण्ड छुड़ाने का उपाय तपश्चर्या है। तपश्चर्या से पूर्वबद्ध कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने तपश्चर्या को विशाल और आन्तरिक स्वरूप प्रदान किया है। साधारण लोग समझते हैं कि भूखा रहना और शारीरिक कष्टों को सहन कर लेना ही तपस्या है, किन्तु यह समझ सही नहीं है। इन्द्रियों को उत्तेजित न होने देने के लिए अनशन भी आवश्यक है, ऊनोदर अर्थात् भूख से कम खाना भी उपयोगी है, जिह्वा को संयत बनाने के लिए अमुक रसों का परित्याग भी करना चाहिए, ऐश-आराम का त्याग करना भी जरूरी है, और इन सब की गणना तपस्या में है, किन्तु सत्साहित्य का पठन, चिन्तन, मनन करना, ध्यान करना अर्थात् बहिर्मुख वृत्ति का त्याग कर अपने मन को आत्म-चिन्तन में संलग्न कर देना, उसकी चंचलता को दूर करने के लिए एकाग्र बनाने का प्रयत्न करना, निरीह भाव से सेवा करना, विनयपूर्ण व्यवहार करना, अकृत्य न होने देना और कदाचित् हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप करना, अपनी भूल को गुरुजनों के समक्ष सरल एवं निष्कपट भाव से प्रकट कर देना, इत्यादि भी तपस्या के ही रूप हैं। इससे आप समझ सकेंगे कि तपस्या कोई 'हौआ' नहीं है, बल्कि उत्तम जीवन बनाने के लिए आवश्यक और अनिवार्य विधि है।

**जीवन की महानता संयम और तप से :**

जिसके जीवन में संयम और तप को जितना अधिक महत्त्व मिलता है, उसका जीवन उतना ही महान् बनता है। संयम और तप सिर्फ साधु-सन्तों की चीजें हैं, इस धारणा को समाप्त किया जाना चाहिए। गृहस्थ हो अथवा गृहत्यागी, जो भी अपने जीवन को पवित्र और सुखमय बनाना चाहता है, उसे अपने जीवन में इन्हें स्थान देना चाहिए। संयम एवं तप से विहीन जीवन किसी भी क्षेत्र में सराहनीय नहीं बन सकता। कुटुम्ब, समाज, देश आदि की दृष्टि से भी वही जीवन धन्य माना जा सकता है जिसमें संयम और तप के तत्त्व विद्यमान हों।

**संयम : जीवन का ब्रेक :**

मोटर कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, अगर उसमें 'ब्रेक' नहीं है तो किस काम की? ब्रेक विहीन मोटर सवारियों के प्राणों को ले बैठेगी। संयम जीवन का ब्रेक है। जिस मानव में संयम का 'ब्रेक' नहीं, वह आत्मा को डुबा देने के सिवाय और क्या कर सकता है? मोटर के 'ब्रेक' की तरह संयम जीवन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

की गतिविधि को नियंत्रित करता है और जब जीवन नियंत्रण में रहता है तो वह नवीन कर्मबन्ध से बच जाता है। तपस्या पूर्वसंचित कर्मों का विनाश करती है। इस प्रकार नूतन बंधनिरोध और पूर्वाजित कर्मनिर्जरा होने से आत्मा का भार हल्का होने लगता है और शनैः शनैः समूल नष्ट हो जाता है। जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो आत्मा अपनी शुद्ध निर्विकार दशा को प्राप्त करके परमात्म-पद प्राप्त कर लेती है, जिसे मुक्तदशा, सिद्धावस्था या शुद्धावस्था भी कह सकते हैं।

**साधना के दो स्तर : गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म :**

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में संयम एवं तप की साधना अत्यन्त उपयोगी है। जो चाहता है कि मेरा जीवन नियंत्रित हो, मर्यादित हो, उच्छृङ्खल न हो, उसे अपने जीवन को संयत बनाने का प्रयास करना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवन्तों ने मानव मात्र की सुविधा के लिए, उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए साधना की दो श्रेणियाँ या दो स्तर नियत किये हैं—(१) सरल साधना या गृहस्थधर्म और (२) अनगार साधना या मुनिधर्म।

अनगार धर्म का साधक वही गृहत्यागी हो सकता है, जिसने सामाजिक मोह-ममता का परित्याग कर दिया है; जो पूर्ण त्याग के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने का संकल्प कर चुका है; जो परिग्रहों और उपसर्गों के सामने सीना तान कर स्थिर खड़ा रह सकता है, और जिसके अन्तःकरण में प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव जागृत हो चुका है। यह साधना कठोर साधना है। विरत सत्वशाली ही वास्तविक रूप से इस पथ पर चल पाते हैं। सभी कालों और युगों में ऐसे साधकों की संख्या कम रही है, परन्तु संख्या की दृष्टि से कम होने पर भी इन्होंने अपनी पूजनीयता, त्याग और तप की अमिट छाप मानव समाज पर अंकित की है। इन अल्पसंख्यक साधकों ने स्वर्ग के देवों को भी प्रभावित किया है। साहित्य, संस्कृति और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में यही साधक प्रधान रहे और मानव जाति के नैतिक एवं धार्मिक धरातल को इन्होंने सदा ऊँचा उठा रक्खा है।

जो अनगार या साधु के धर्म को अपना सकने की स्थिति में नहीं होते, वे आगार धर्म या श्रावकधर्म का पालन कर सकते हैं। आनन्द श्रावक ने अपने जीवन को निश्चित रूप से प्रभु महावीर के चरणों में समर्पित कर दिया। उसने निवेदन किया—मैंने वीतरागों का मार्ग ग्रहण किया है, अब मैं सराग मार्ग का त्याग करता हूँ। मैं धर्मभाव से सराग देवों की उपासना नहीं करूँगा। मैं सच्चे संयमशील त्यागियों की वन्दना के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ। जो साधक अपने जीवन में साधना करते-करते, मतिवैपरीत्य से पथ से विचलित हो जाते हैं,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा जो संयमहीन होकर भी अपने को संयमो प्रदर्शित और घोषित करते हैं, उन्हें मैं वन्दना नहीं करूँगा। आनन्द ने संकल्प किया—मैं वीतरागवाणी पर अटल श्रद्धा रखूँगा और शास्त्रों के अर्थ को सही रूप में समझ कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करूँगा।

**शास्त्रों के अध्ययन में तटस्थ दृष्टि आवश्यक :**

यदि शास्त्र का अर्थ अपने मन से खींचतान कर लगाया गया, तो वह आत्मघातक होगा। उसके धर्म को समझने में बाधा उपस्थित होगी। शास्त्र का अध्ययन तटस्थ दृष्टि रखकर किया जाना चाहिए, अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखकर नहीं। जब पहले से कोई दृष्टि निश्चित करके शास्त्र को उनके समर्थन के लिए पढ़ा जाता है, तो उसका अर्थ भी उसी ढंग से किया जाता है। कुरीतियों, कुमार्गों और मिथ्याडम्बरों को एवं मान्यता भेदों को जो प्रश्रय मिला है, उसका एक कारण शास्त्रों का गलत और मनमाना अर्थ लगाना है। ऐसी स्थिति में शास्त्र शस्त्र का रूप ले लेता है। अर्थ करते समय प्रसंग आदि कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

**अर्थ की समीचीनता प्रसंग से :**

कोई साहब भोजन करने बैठे। उन्होंने अपने सेवक से कहा—'सैन्धवम् आनयं। वह सेवक घोड़ा ले आया। भोजन का समय था फिर भी वह 'सैन्धव' मंगाने पर घोड़ा लाया। खा-पीकर तैयार हो जाने के पश्चात् कहीं बाहर जाने की तैयारी करके पुनः उन्होंने कहा—'सैन्धवम् आनयं।' उस समय सेवक नमक ले आया, यद्यपि सैन्धव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी; कोष के अनुसार दोनों अर्थ सही हैं। फिर भी सेवक ने प्रसंग के अनुकूल अर्थ न करके अपनी मूर्खता का परिचय दिया। उसे भोजन करते समय 'सैन्धव' का अर्थ 'नमक' और यात्रा के प्रसंग में 'घोड़ा' अर्थ समझना चाहिये। यही प्रसंगानुकूल सही अर्थ है। ऊट-पटांग अथवा अपने दुराग्रह के अनुकूल अर्थ लगाने से महर्षियों ने जो शास्त्र-रचना की है, उसका समीचीन अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

**आनंद का निर्दोष दान देने का संकल्प :**

आनंद ने अपरिग्रही त्यागी सन्तों को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देने का संकल्प किया, क्योंकि आरम्भ और परिग्रह के त्यागी साधु दान के सर्वोत्तम पात्र हैं। उसने जिन वस्तुओं का दान देने का निश्चय किया, वे दान इस प्रकार हैं—(१) अशन (२) पान (३) खाद्य-पकवान आदि (४) स्वाद्य-मुखवास चूर्ण आदि (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (७) रजोहरण (६) पीठ-चौकी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बाजौट (१०) पाट (११) औषध-सोंठ, लवंग, काली मिर्च आदि (१२) भैषज्य बनी-बनाई दवाई (१३) शय्या-मकान और (१४) संस्तारक-पराल आदि ।

रजोहरण पाँव पोंछने का वस्त्र है, जो धूल साफ करने के काम आता है जिससे संचित की विराधना न हो । शय्या मकान के अर्थ में रूढ़ हो गया है । इसका दूसरा अर्थ है—बिछाकर सोने का उपकरण पट्टा आदि । पैरों को समेट कर सोने के लिए करीब अढाई हाथ लम्बे बिछौने को 'संथारा-संस्तारक' कहते हैं । प्रमाद की वृद्धि न हो, यह सोचकर साधक सिमट कर सोता है । इससे नींद भी जल्दी खुल जाती है । आवश्यकता से अधिक निद्रा होगी तो साधना में बाधा आयेगी, विकृति उत्पन्न होगी और स्वाध्याय-ध्यान में विघ्न होगा । ब्रह्मचारी गद्दा बिछा कर न सोये, यह नियम है । ऐसा न करने से प्रमाद तथा विकार बढ़ेगा ।

साधु-सन्तों को औषध-भेषज का दान देने का भी बड़ा माहात्म्य है । औषध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—ओषं पोषं धत्ते, इति औषधम् ।' सोंठ, लवंग, पीपरामूल, हर्र आदि वस्तुएँ औषध कहलाती हैं । यूनानी चिकित्सा पद्धति में भी इसी प्रकार की वस्तुओं का उपयोग होता है ।

**आहार-विहार में संयम आवश्यक :**

प्राचीन काल में, भारतवर्ष में आहार-विहार के विषय में पर्याप्त संयम से काम लिया जाता था । इस कारण उस समय औषधालय भी कम थे । कदाचित् कोई गड़बड़ी हो जाती थी तो बुद्धिमान मनुष्य अपने आहार-विहार में यथोचित् परिवर्तन करके स्वास्थ्य प्राप्त कर लेते थे । चिकित्सकों का सहारा क्वचित् कदाचित् ही लिया जाता था । करोड़ों पशु-पक्षी वनों में वास करते हैं । उनके बीच कोई वैद्य-डॉक्टर नहीं है । फिर भी वे मनुष्यों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते हैं । इसका कारण यही है कि वे प्रकृति के नियमों की अवहेलना नहीं करते । मनुष्य अपनी बुद्धि के घमण्ड में आकर प्रकृति के कानूनों को भंग करता है और प्रकृति कुपित होकर उसे दंडित करती है । मांस-मदिरा आदि का सेवन करना प्रकृति विरुद्ध है । मनुष्य के शरीर में वे आंतें नहीं होती, जो मांसादि को पचा सकें । मांस भक्षी पशुओं और मनुष्यों के नाखून दांत आदि की बनावट में अन्तर है । फिर भी जिह्वालोलुप मनुष्य मांस भक्षण करके प्रकृति के कानून को भंग करते हैं । फलस्वरूप उन्हें दंड का भागी होना पड़ता है । पशु के शरीर में जब विकार उत्पन्न होता है, तो वह चारा खाना छोड़ देता है । यह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है । किन्तु मनुष्य से प्रायः यह भी नहीं बन पड़ता । बीमार कदाचित् खाना न चाहे तो उसके अज्ञानी पारिवारिक जन कुछ

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

न कुछ खा लेने की प्रेरणा करते हैं और खिलाकर छोड़ते हैं। पर पशु अनशन के द्वारा ही अपने रोग का प्रतिकार कर लेते हैं।

गर्भावस्था में मादा पशु न समागम करने देती है और न नर समागम करने की इच्छा ही करता है, पर मनुष्य इतना भी विवेक और सन्तोष नहीं रखता।

मनुष्य का आज आहार सम्बन्धी अंकुश बिलकुल हट गया। वह घर में भी खाता है और घर से बाहर दुकानों और खोमचों पर जाकर भी दोने चाटता है। ये बाजारू चीजें प्रायः स्वास्थ्य का विनाश करने वाली, विकार विवर्द्धक और हिंसाजनित होने के कारण पापजनक भी होती हैं। दिनोंदिन इनका प्रचार बढ़ता जा रहा है और उसी अनुपात में व्याधियाँ भी बढ़ती जा रही हैं। अगर मनुष्य प्रकृति के नियमों का प्रामाणिकता के साथ अनुसरण करे और अपने स्वास्थ्य की चिन्ता रक्खे, तो उसे डॉक्टरों की शरण में जाने की आवश्यकता ही न हो।

**दुर्व्यसनों से बचें :**

अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों ने आज मनुष्य को बुरी तरह घेर रक्खा है। कैंसर जैसा असाध्य रोग दुर्व्यसनों की बदौलत ही उत्पन्न होता है और वह प्रायः प्राण लेकर ही रहता है। अमेरिका आदि में जो शोध हुई है, उससे स्पष्ट है कि धूम्रपान इस रोग का कारण है। मगर यह जानकर भी लोग सिगरेट और बीड़ी पीना नहीं छोड़ते। उन्हें मर जाना मंजूर है, मगर दुर्व्यसन से बचना मंजूर नहीं। यह मनुष्य के विवेक का दिवाला नहीं तो क्या है? क्या इसी बित्ते पर वह समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है? प्राप्त विवेक-बुद्धि का इस प्रकार दुरुपयोग करना अपने विनाश को आमंत्रित करना नहीं तो क्या है?

लोंग, सोंठ आदि चीजें औषध कहलाती हैं। तुलसी के पत्ते भी औषध में सम्मिलित हैं। तुलसी का पौधा घर में लगाने का प्रधान उद्देश्य स्वास्थ्य लाभ ही है। पुराने जमाने में इन चीजों का ही दवा के रूप में प्रायः इस्तेमाल होता था। आज भी देहात में इन्हीं का उपयोग ज्यादा होता है। इन वस्तुओं को चूर्ण, गोली, रस आदि के रूप में तैयार कर लेना भेषज है।

**प्रश्न : दान की पात्रता-अपात्रता का :**

आनन्द ने साधु-साध्वी वर्ग को दान देने का जो संकल्प किया उसका तात्पर्य यह नहीं कि उसने अन्य समस्त लोगों की ओर से पीठ फेर ली। इसका

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह दुःखी, दीन, पीड़ित, अनुकम्पापात्र जनों को दान ही नहीं देगा। सुख की स्थिति में पात्र-अपात्र का विचार किया जाता है, दुःख की स्थिति में पड़े व्यक्ति में तो पात्रता स्वतः आ गई। अभिप्राय यह है कि कर्म निर्जरा की दृष्टि से दिये जाने वाले दान में सुपात्र-कुपात्र का विचार होता है, किन्तु अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान में यह विचार नहीं किया जाता। कसाई या चोर जैसा व्यक्ति भी यदि मारणान्तिक कष्ट में हो तो उसको कष्ट मुक्त करना, उसकी सहायता करना और दान देना भी पुण्यकृत्य है, क्योंकि वह अनुकम्पा का पात्र है। दानी यदि अनुकम्पा की पुण्यभावना से प्रेरित होकर दान देता है, तो उसे अपनी भावना के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। इस निमित्त से भी उसकी ममता में कमी होती है।

**वाणी को व्यवहार में उतारें :**

गृहस्थ आनन्द भगवान् महावीर स्वामी की देशना को श्रवण करके और व्रतों को अंगीकार करके घर लौटता है। उसने महाप्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर उनसे कुछ ग्रहण किया। उसने अपने हृदय और मन का पात्र भर लिया। आप्त पुरुष की वाणी श्रवण कर जैसे आनन्द ने उसे अपने जीवन व्यवहार में उतारने की प्रतिज्ञा की, उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक को उसे व्यावहारिक रूप देना चाहिये। ऐसा करने से ही इहलोक-परलोक में कल्याण होगा।

**मेला लगायें मुक्ति का :**

जीवन में आमोद-प्रमोद के भी दिन होते हैं। उनका महत्त्व भी हमारे सामने है। यथोचित सीख लेकर हमें उस महत्त्व को उपलब्ध करना है। यों तो मेले बहुत लगते हैं, किन्तु मुक्ति का मेला यदि मनुष्य लगा ले, आध्यात्मिक जीवन बना ले तो उसे स्थायी आनन्द प्राप्त हो सकता है।

"संसार में दो किस्म के मेले होते हैं—(१) कर्मबन्ध करने वाले और (२) बंध काटने वाले अथवा (१) मन को मलीन करने वाले और (२) मन को निर्मल करने वाले। प्रथम प्रकार के मेले काम, कुतूहल एवं विविध प्रकार के विकारों को जागृत करते हैं। ऐसे मेले बाल-जीवों को ही रुचिकर होते हैं। संसार में ऐसे बहुत मेले देखे हैं और उन्हें देख कर मनुष्यों ने अपने मन मैले किये हैं। उनके फलस्वरूप संसार में भटकना पड़ा है। अब यदि जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा पाना है तो मुक्ति का मेला करना ही श्रेयस्कर है।

□ □ □

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org